पुराने अंतर्विरोधों की नई जटिलताएँ


प्रफुल्ल कोलख्यान

समाज विकास में विज्ञान और तकनीक का बहुत महत्त्व होता है। विज्ञान और तकनीक तक पहुँच बनाने और उसका लाभ उठाने में आगे रहनेवाले सामाजिक विकास में आगे रहते हैं। विज्ञान और तकनीक के विकास के साथ-साथ विज्ञान और तकनीक तक पहुँच होने की शर्त्त, सामाजिक विकास की शर्त्त बनती जाती है। **`विकास' के आशय में `नैतिक-मूल्यों' का नहीं, `क्षमताओं' का तात्पर्य शामिल होता है। क्षमता का ही दूसरा नाम स्वतंत्रता है। नैतिकता और क्षमता में सहमेल होना चाहिए, लेकिन इनमें पुराना अंतर्विरोध है। `समरथ' को `दोष' नहीं लगने की बात तो तुलसीदास ने भी उठाई। वह शुभ दिन कभी-कभी आता है जब किसी सजग आदमी को `समरथ के नहीं, दोष गुसाईं' की याद न आती हो। विज्ञान और तकनीक के अपनाव से `क्षमता' बढ़ती है। क्षमता बढ़ने से `अंतर्निर्भरता' और `अंतरर्निर्भरता' घटती है। अंतर्निर्भरता और अंतरर्निर्भरता घटने से व्यक्ति के `नैतिक' होने की सामाजिक बाध्यता कम होती जाती है। विकास का समस्त `नैतिक-मूल्य' से विरत `क्षमता' से परिचालित होता है। क्षमता और नैतिकता के अंतस्संबंध से `व्यक्ति' और `समाज' के पुराने अंतर्विरोध में जटिलताएँ बनती रही हैं। `क्षमता' और `नैतिकता' के पुराने अंतर्विरोध में `निजीकरण' की परियोजनाओं से नई जटिलताएँ बन रही है।**

अंतर्निहित तात्त्विक समानताओं के बावजूद विषम_समाज में उपलब्ध अवसरों और संसाधनों की असमानताओं के दुष्चक्र के कारण मनुष्य का सामाजिक जीवन अ-सम होता है। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट से कया जा सकता है। एक आदमी यातायात के सघन सेवा क्षेत्र में रहता है, जिसे सौ किलोमीटर दूर किसी अवसर पर शाम चार बजे एक घंटा के लिए हाजिर होना है। वह आधे दिन तक अपना काम सामान्य रूप से कर सकता है। लगभग दो बजे यात्रा आरंभ कर चार बजे निर्दिष्ट गंतव्य पर हाजिर होकर अपना काम निपटाकर आठ बजे तक वापस आ सकता है। लेकिन समान काम के लिए संसाधन-वंचित क्षेत्र के किसी आदमी को अपेक्षाकृत अधिक समय और अधिक मार्ग व्यय वहन करना पड़ता है। संसाधन-संपन्न-क्षेत्र में रहनेवाले के लिए उपार्जन के अपेक्षाकृत अधिक अवसर होते हैं जबकि कम खर्च में अधिक काम करने की सुविधा होती है। दूसरी तरफ संसाधन-बंचित-क्षेत्र में रहनेवाले के पास उपार्जन के अवसर कम होते हैं जबकि समान प्रयोजन के लिए व्यय की विवशता कहीं अधिक होती है। ऐसा व्यक्ति मिल सकता है जो सिर्फ निजी वाहन का प्रयोग करता है, लेकिन ऐसा कोई हो नहीं सकता जो सिर्फ निजी सड़क का इस्तेमाल करता हो। तात्पर्य यह कि विकास की आनुक्रमिकता का एक अनिवार्य क्षेत्रीय प्रसंग होता है और संसाधानों के स्वामित्व का व्यवहार अंततः अनिवार्य सामाजिकता पर निर्भर करती है। विकास के क्षेत्रीय प्रसंग और

सामाजिकता की अनदेखी से एक ही `राष्ट्र' के लोग विभिन्न विकास-समूहनों में बँटते रहते हैं। सामाजिक समानता का आर्थिक समानता से गहरा संबंध है। राजनीतिक समानता की घोषणा इन समूहनों की सामाजिक और आर्थिक समानता को समर्थित नहीं करती है। कोई एक क्षेत्र या एक समूहन `राष्ट्र' अर्थात अपनेआप में संप्रभुत्व संपन्न राजनीतिक इकाई नहीं होता है, लेकिन कोई एक क्षेत्र या एक समूहन बहुत आसानी से `राष्ट्र' में बदलने लगता है और `राष्ट्र' की तरह आचरण करने लगता है; एक ही राष्ट्र के दूसरे क्षेत्र और समाज धीरे-धीरे इस समाज के उपनिवेश बनने लगते हैं।`समाज' ओर `राष्ट्र' के पुराने अंतर्विरोधों में `भूमंडलीकरण' की प्रक्रिया से नई जटिलताएँ बन रही है।

`राष्ट्रवाद' बार-बार विश्वास दिलाता है कि असली `समूहन' का आधार राष्ट्र बनाता है, समूहन के शेष सभी आधार आभासी और क्षयिष्णु होते हैं। राष्ट्रवाद अक्सर इस बात को ओझल कर देता है कि कानून समान होने पर भी एक विषम समाज में उस `समान कानून' तक पहुँच बनाने ओर बरतने के अवसर समान नहीं होते हैं। यही वह स्थिति होती हैं जहाँ राज्य के कानून की समानताएँ आभासी और समाज की संरचना की अ-समानताएँ वास्तविक होती है। समानता का आभासी और अ-समानता का वास्तविक होना समाज और राष्ट्र के पुराने अंतर्विरोध की नई जटिलताएँ बनाता है।

`भूमंडलीकरण' की परियोजना संप्रभुत्व संपन्न राजनीतिक इकाई के रूप में `राष्ट्र' को विदा देकर समूहन के क्षेत्रीय आधार को सामाजिक स्वायत्तता का स्वप्न दिखाकर भरमाती रहती है। तो क्या राष्ट्र नहीं रहेंगे ! राष्ट्र रहेंगे। विकास के पिरामीड के शीर्ष समूह की इकाई बनकर। यह शीर्ष समूह अपने नीचे के किसी समूह से अपनी तुलनीयता को नकारेगा और दूसरे राष्ट्र के विकास-पिरामीड के शीर्ष समूह से अपनी तुलनीयता को स्वीकारेगा। हमारे प्रसंग में, `हम भारत के लोग' का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। भारत का एक अंश `अमेरीका' बनेगा तो उसकी स्वाभाविक परिणति के रूप में दूसरा हिस्सा `लातिन अमेरीका' बनेगा। विभिन्न राष्ट्रों के विकास-पिरामीड के शीर्ष परस्पर अंतर्ग्रंथित होंगे और विकास-पिरामीडों का बुनियादों से विच्छिन्नता अवश्यंभावी हो जायेगा। यानी अधि-राष्ट्रीय सरोकार कारगर होंगे। एक राष्ट्र के नागरिकों में सामाजिक-समानता के लक्ष्य की ओर बढ़ने का संकल्प आत्म-खंडन की स्थिति में पहुँच जायेगा। अवसरों और क्षमताओं की समानता के बदले किसी अन्य आधार पर समानता को आभासी राष्ट्र का आधार बनाया जा सकता है। पिछली शताब्दी में धर्म को राष्ट्रीयता का आधार बनाया गया और आज भी `सांस्कृतिक राष्ट्र' की अवधारणा को लोकप्रिय बनाने की कोशिशें की ही जा रही है! विश्व-मानवतावाद के लिए `राष्ट्रवाद' कभी बाधक था, लेकिन आज मनुष्य को छोटे-छोटे अंध-समूहों में बाँटने, सभ्यता की मूल समताकांक्षी चेतना को परिपथ से विचलित करने के लिए `राष्ट्र' को फालतू बनाने के खिलाफ `राष्ट्रबोध' एक महत्त्वपूर्ण आधार हो सकता है यदि `अवसरों और क्षमताओं' के समान वितरण की आकांक्षा और संघर्ष का राजनीतिक प्रबंधन और सांस्कृतिक अंतर्गुंफन, पंचायत से संसद तक संभव हो सके। कभी `समाजवाद' और `विश्व-मानवतावाद' मिलकर `राष्ट्रवाद' का विलोम रचते थे। रवींद्रनाथ ठाकुर ने पूँजीवाद के साम्राज्यवाद के संबंध को गंधर्व-विवाह के रूपक से समझाया था। उन्होंने `भारत में राष्ट्रीयता' पर विचार करते हुए `राष्ट्र' को मानवता से बड़ा मानने से इनकार किया था। यह सच है कि `राष्ट्रवाद' विश्व-मानवतावाद की अवधारणा को खंडित करता है, `मानवता' को `राष्ट्र' से भिड़ा देता है। इसलिए कई बार `मानवाधिकार' के मामले राष्ट्रों के संदर्भ से तय होने लगते हैं। इस सचाई को इस सावधानी के साथ

स्वीकारना चाहिए कि `राष्ट्रबोध' का अभाव मानवता को छोटे-छोटे खंडों में बाँटकर मनुष्यता को उसके अननंत बिखराव में डाल देगा। राष्ट्र को शिथिल बनाने और राष्ट्र लोप की परियोजनाओं पर काम को आगे बढ़ानेवाली शक्तियाँ अपने-अपने राष्ट्रों की मजबूती के लिए दिन-रात एक किये रहती हैं। एक-ध्रुवीय विश्व की विविध परियोजनाओं में राष्ट्रों की संप्रभुताओं को एकवचनीयता में ले जाकर अमेरीका केंद्रित विश्व-राष्ट्रीयता के संस्थापन की आकांक्षा में छिपे सपनों को समझना होगा। आज `राष्ट्रवाद', `विश्वमानवतावाद' और `समाजवाद' के पुराने अंतर्विरोधों में नई जटिलताएँ बन रही हैं। `नख-शिख जनतंत्र' के रास्ते पर चलने से इनकार, जनतंत्र को जाल में बदल देता है। इन जटिलताओं और जालों को समझना जरूरी है।

संविधान सभा में भाषण देते हुए डॉ. अंबेदकर ने कहा था कि राजनीति के क्षेत्र में समानता को अपनाने के बावजूद अगर सामाजिक-आर्थिक संरचना में भी समानता को सुनिश्चित नहीं किया जा सका तो हम विरोधाभासी जीवन जीने की बाध्यता में फँसे रहेंगे। राजनीतिक जनतंत्र तब तक टिकाऊ नहीं हो सकता जब तक कि उसकी आधारशिला के रूप में सामाजिक जनतंत्र न हो। वे सामाजिक जनतंत्र को स्वाधीनता, समानता एवं भ्रातृत्व को जीवन-सिद्धांत के रूप में मान्यता देनेवाला मानते थे। सामाजिक-जनतंत्र का लक्ष्य हम से कोसों दूर है। न सिर्फ दूर है, बल्कि सचाई तो यह है कि सामाजिक-जनतंत्र को हासिल करना आज हमारा राजनीतिक लक्ष्य भी नहीं रह गया है। ऐसा नहीं होता तो सामाजिक-जनतंत्र की चिंता से हमारे समय के राजनेता, व्यक्तिगत और सांगठनिक तौर पर, इतने विमुख क्यों होते! दुखद है, मगर सच है कि पूरे मन से समाज सुधार की जरूरत आज कम ही दल महसूस कर पा रहे हैं। सामाजिक सुधार के आंदोलन के राजनीतिक एजेंडे पर होने की बात तो बहुत दूर की कौड़ी है। जनतंत्र में किसी भी राजनीतिक दल के लिए चुनाव निश्चित रूप से एक बहुत बड़ा राजनीतिक मुद्दा होता है। क्योंकि किसी भी राजनीतिक दल के लिए ठोस और अपेक्षाकृत अधिक टिकाऊ जनसमर्थन और सत्ता की पौष्टिकताएँ चुनाव के माध्यम से ही प्राप्त होती है। चुनावी जीत और हार जनतंत्र का बहुत बड़ा सत्य होता है। इस सत्य की अनदेखी करने की अव्यावहारिकता की अपेक्षा किसी राजनीतिक दल से नहीं की जा सकती है। बावजूद इसके, यह अपेक्षा तो प्रत्येक जातांत्रिक दल से की ही जा सकती है कि वह समाज के हितों को नजरअंदाज न करे और इस बात को समझे कि राजनीतिक जनतंत्र के सामाजिक जनतंत्र के रूप में हासिल करना स्वतंत्र राष्ट्र में अनिवार्य राजनीतिक प्रक्रिया होती है। शासन और शासक बदल जाते हैं, शासन और शासक के साथ ही जनता और समाज नहीं बदल जाया करते हैं। सामाजिक समर्थन के बिना वैधानिक व्यवस्था का सुचारू रूप से चल पाना, जनहित के बेहतर-से-बेहतर कानूनों का अनुपालन असंभव ही होता है। बाल मजदूरी और दहेज संबंधी कानून के कारगर होने की समीक्षा से स्थिति की भयावहता का अनुमान लग सकता है। कितनी बेचेन कर देनेवाली बात है कि राहत शिविरों में भी छुआछूत का मनोभाव सक्रिय रहता है! जेल में सवर्ण कैदी दलितों के साथ भोजन करने से इनकार करते हैं। `दलितों की जान' से अधिक `मरी हुई गाय' की कीमत आँकनेवाले लोग समाज में प्रमुख बने रहते हैं। जाति के बाहर प्रेम करनेवाले आज भी पारंपरिक सामाजिक निकायों के द्वारा देशनिकाला और प्राणदंड तक की सजा पाते हैं। न तो संविधान की कोई धारा और न विवेक की कोई पुकार ही उनकी मदद कर पाती है। मानवता-विरोधी और संविधान-विरोधी कई कुरीतियाँ सामाजिक प्रथा के नाम पर सामाजिक-समर्थन से आज भी जारी है। इन कुप्रथाओं के जानलेवा परिणाम समाचार माध्यमों से

मिलते रहते हैं। कुछ गैर-सरकारी संगठन इस दिशा में काम भी कर रहे हैं। गैर-सरकारी संगठनों की सदिच्छाओं के बावजूद उनकी सीमाएँ होती हैं। सामाजिक सुधार का काम उनके बूते की बात इसलिए भी नहीं है कि सामाजिक सुधार की प्रेरणाओं और प्रतिज्ञाओं के समाज के भीतर से उठने पर ही सामाजिक समर्थन मिल पाता है। गैर-सरकारी संगठन अपनी बनक में ही निहित मौलिक बाध्यताओं के कारण समाज की भीतरी प्रेरणाओं के रूप में सक्रिय न होकर बाहरी हस्तक्षेप के रूप में सक्रिय होते हैं। समाज की संरचना मुँह बंद घड़े की तरह होता है। कोई भी बाहरी प्रयास औंधे घड़े पर पड़नेवाले पानी की तरह होता है। अधिकतर गैर-सरकारी संगठन के कर्त्ता-धर्त्ता अपने समाज की भौगोलिकता में सक्रिय न होकर किसी अन्य समाज की भौगोलिकता में जाकर काम करते हैं। उनमें व्यावसायिक दक्षता तो पूरी होती है लेकिन टिकाऊ सामाजिक परिवर्त्तन की क्षमता उतनी नहीं होती है। भारतीय समाजों के मनोविज्ञान को समझें तो, औपनिवेशिकता के रूप में बड़ा बाहरी हस्तक्षेप के तीखे अनुभवों के कारण किसी भी रूप के बाहरी हस्तक्षेप में, चाहे वह कितना भी जनहितकारी क्यों न हो, एक प्रकार की औपनिवेशिक दुर्गंध हमेशा बनी रहती है। सामाजिक परिवर्त्तन का काम राजनीतिक परिवर्त्तन के साथ-साथ लेकिन स्वतंत्र रूप से संपन्न होता है।

वास्तविक राजनीतिक प्रक्रिया का स्थगन सामाजिक परिवर्त्तन की प्रक्रिया के स्थगन का भी कारण है। आजादी के आंदोलन के दौरान जब राजनीतिक आंदोलन में गति थी तब सामाजिक परिवर्त्तन के आंदोलन भी सक्रिय थे। सच पूछा जाये तो हाल के दिनों में जयप्रकाश आंदोलन के बाद कोई प्रभावी और सकारात्मक राजनीतिक आंदोलन इस देश में, खासकर हिंदी-पट्टी में, नहीं हुआ है। `राम' के नाम पर जो हुआ उसमें आंदोलन के तत्त्व कम और उन्माद के तत्त्व अधिक थे। उस राजनीतिक उन्माद के कारण कुछ राजनीतिक ध्रुवीकरण जरूर हुए हैं। इन ध्रुवीकरणों के असर विधानमंडलों की सामाजिक संरचना में भी परिलक्षित किये जा सकते हैं। इतना कुछ होने के बावजूद इन ध्रुवीकरणों से किसी कारगर राजनीतिक आंदोलन का सूत्रपात नहीं हुआ। इन ध्रुवीकरणों से राजनीतिक हठ का जन्म जरूर हुआ है। `उन्माद' से `हठ' उत्पन्न होता है, आंदोलन नहीं। अनुभव यह कि सामाजिक आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करनेवाले सामाजिक आंदोलन के अभाव में राजनीतिक ध्रुवीकरण बहुत अधिक कारगर नहीं होते हैं। राजनीतिक ध्रुवीकरण और हठ के बल पर शासक दल में बदलाव हो सकता है, इससे समाज में अपेक्षित बदलाव का काम पूरा नहीं हो पाता है। नये रास्ते पर चलने का चाहे जितना ढिंढोरा पीटे लेकिन, हकीकत में सत्ता प्राप्ति के बाद नया शासक दल भी पुराने शासक दल के ढर्रे पर ही चलता रहता है। इसका अनुभव तो ब्रिटिश उपनिवेश को विस्थापित कर स्थापित हुई देशी शासन-व्यवस्था में भी थोड़ा-बहुत हमें है ही। ध्यान देने की बात यह भी है कि देश के जिस हिस्से में समाज-सुधार के आंदोलन जिस मात्रा में हुए वहाँ राष्ट्रबोध भी उतनी ही तेजी से विकसित हुआ। न सिर्फ राष्ट्रबोध विकसित हुआ बल्कि वहाँ कानून और व्यवस्था की भी हालत बेहतर है, आर्थिक विकास की गुणवत्ता भी दूसरी जगहों की तुलना में बेहतर दिखती है। विज्ञान और तकनीक के विकास के साथ सचेत और तीव्र सामाजिक सुधार के लिए प्रभावी राजनीतिक आंदोलन ही पुराने अंतर्विरोधों की नई जटिलताओं के जाल से मुक्ति की राह दिखला सकती है। जहाँ तक भारतीय संदर्भ है विज्ञान और तकनीक के विकास में तो फिर भी थोड़ी बहुत गति आ रही है लेकिन सामाजिक सुधार के लिए प्रभावी राजनीतिक आंदोलन बिल्कुल

ही अनुपस्थित है। वैसे भी राजनीतिक आंदोलन सामाजिक सुधार से अपने को जोड़ने के जोखिम में नहीं पड़ता है, तो फिर एक ही ठौर बचता है, सामाजिक सुधार के लिए सामाजिक आंदोलन। मुश्किल यह कि भंगुर सामाजिकता अपने सुधार की प्रेरणा के साथ आगे कैसे बढ़े और न बढ़े तो पुराने अंतर्विरोधों की नई जटिलताओं के जाल से मुक्ति कैसे पाये!

कृपया, निम्नलिंक देखें

1. सामाजिक जनतंत्र के सवाल.pdf

2. दलित राजनीति की समस्याएँ.pdf

